# गरीबी पढ़ानाः एक फर्क नज़रिया



सुकन्या बोस

## एक अन्तर्विषयी रूपरेखा तथा पद्धति की ओर

**1. मानकीय धारणाओं का समावेश**

राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा[1] शिक्षा आयोग की रिपोर्ट (भारत सरकार, 1964) का उल्लेख करती है जिसने इस बात पर ज़ोर दिया था कि भारत को केवल विकासात्मक दृष्टिकोण से नहीं देखा जाना चाहिए। इस नज़रिए की समस्या यह है कि यह गरीबी, निरक्षरता तथा जातिवाद को राष्ट्रीय प्रगति की राह में खड़े अवरोधों की तरह ही देखता है। सोच के इस दृष्टिकोण का यह आशय निकाला जा सकता है कि आम निरक्षर जनता ने देश को विफल बनाया है। इस धारणा की प्रासंगिकता को दोहराते हुए राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005 ने ज्ञानशास्त्रीय दृष्टि से शिक्षा के केन्द्रीय सरोकार को उपयोगितावाद से समानतावाद की ओर परिवर्तित करने का सुझाव दिया था जिस पर

[1] *नैशनल करीकुलम फ्रेमवर्क, एन.सी.ई.आर.टी., 2005*

ध्यान देने में हम साफ तौर पर विफल रहे हैं।

**हम ऐसे ज्ञानशास्त्रीय परिवर्तन को कैसे हासिल करें जो आर्थिक मुद्दों को मानकीय सरोकारों (normative concerns) से सम्बद्ध कर दे?**

गरीबी के अध्ययन में मानकीय सरोकारों का एकीकरण करने के लिए, और व्यक्तियों के विकास को अपने आप में शिक्षा के महत्वपूर्ण साध्य के रूप में स्थापित करने के लिए, क्षमता का दृष्टिकोण (capability approach) एक अच्छा प्रारम्भ बिन्दु प्रदान करता है। मानवाधिकारों तथा गरीबी को कम करने पर संयुक्त राष्ट्र संघ का दस्तावेज़[2] कहता है कि 'गरीबी के बारे में क्षमता का दृष्टिकोण गरीबी तथा मानवाधिकारों के विमर्शों के बीच एक अवधारणात्मक सेतु प्रदान करता है।' क्षमतावादी दृष्टिकोण गरीबी को कुछ खास बुनियादी आज़ादियों की अपर्याप्त उपलब्धता के रूप में परिभाषित करता है। बुनियादी आज़ादियों से गरीबी की अवधारणा का सरोकार होने का कारण यह है कि ये सुविधाएँ न्यूनतम मानवीय गरिमा के लिए मूलभूत रूप से मूल्यवान मानी जाती हैं। लेकिन मानवीय गरिमा की चिन्ता मानवाधिकारों के दृष्टिकोण को भी प्रेरित करती है जो यह मानता है कि इन आज़ादियों पर लोगों के अनन्य अधिकार होते हैं। यदि कोई व्यक्ति इन आज़ादियों को प्राप्त करने में विफल रहता है तो ज़ाहिर है कि इन आज़ादियों पर उसके अधिकारों की पूर्ति नहीं हुई है। इसलिए गरीबी को घटाना जनकल्याण की सदाशयता या दानशीलता की बात न होकर दायित्व का प्रश्न होता है।

इसे फिर से दोहराएँ तो, क्षमता का दृष्टिकोण बहुत सार्थक प्रतीत होता है, क्योंकि यह खुला, व्यापक और समावेशी है। यह व्यक्तियों के बीच के अन्तरों, लोगों की विविधताओं, संस्कृतियों तथा मानवीय आवश्यकताओं को ध्यान में रखता है। उपयोगितावादी ढाँचे (utilitarian framework) - जो मानव जीवन के स्वतंत्रता, अधिकारों, जीवन की गुणवत्ता जैसे महत्वपूर्ण पहलुओं को बाहर रखता है - के विपरीत एक बहु-आयामी दायरे को अपनाने के कारण क्षमतावादी दृष्टिकोण समावेशी होता है। अतः यह सुझाव देना उचित होगा कि गरीबी का अध्ययन करने के लिए स्कूल स्तर के अर्थशास्त्र को क्षमतावादी दृष्टिकोण को अपनाना चाहिए और मानवीय विकास की एक अधिक पूर्णतावादी अवधारणा निर्मित करना चाहिए।

क्षमतावादी दृष्टिकोण का उपयोग करके रूपरेखा तथा व्याख्या सम्बन्धी अनेक समस्याओं और पिछले खण्डों में बताई गई स्पष्ट खामियों से बचा जा सकता है।

---

[2] *ह्यूमन राइट्स ऐंड पॉवर्टी रिडक्शन, युनाइटेड नेशन्स, 2004*

- साधनों तथा साध्यों का अन्तर इस ढाँचे का केन्द्रीय पहलू है, और इसे हम पीछे बताई गई कक्षा में होने वाली त्रुटियों के मूल में देख चुके हैं। उच्च आर्थिक वृद्धि दर जैसे आर्थिक सफलता के मापदण्डों का मूल्य कहीं अधिक गहरे साध्यों को प्राप्त करने के साधनों के रूप में ही आँका जाना चाहिए। गरीबी को कम किया जाना बेहद ज़रूरी है क्योंकि यह व्यक्ति को जीवन के अधिकार से वंचित कर देती है; इस बात का महत्व गौण है कि इसे कम करना देश के विकास में योगदान देगा। बुनियादी क्षमताओं को निर्मित करने वाले तत्वों की तरह बुनियादी शिक्षा तथा अच्छे स्वास्थ्य का प्रत्यक्ष रूप से मूल्य होता है, हालाँकि ये क्षमताएँ एक अधिक मानक किस्म की आर्थिक सफलता पैदा करने में भी सहायता कर सकती हैं, जो फिर मानव जीवन की गुणवत्ता को बढ़ाने में और भी अधिक योगदान दे सकती है[3]।
- यह मानवीय प्रेरणा को प्रमुख कारक के रूप में सामने लाता है। मनुष्य निश्चित ही दूसरे मनुष्यों की फिक्र करते हैं। वे समाज में निष्पक्षता और औचित्य को महत्व देते हैं।
- इस ढाँचे का एक प्रमुख योगदान यह है कि यह हमारे ध्यान के केन्द्र को वृद्धि से हटाकर वृद्धि के आख्यान के वितरणात्मक पहलुओं पर ले जाता है। उदाहरण के लिए, खाद्य गरीबी के विश्लेषण में यह इस बात पर ज़ोर देता है कि अधिकांश मामलों में समस्या खाद्य सामग्री की कमी नहीं होती, बल्कि तमाम लोगों के समूहों की असमर्थता होती है जो लेन-देन के प्रतिकूल अधिकारों (वस्तुओं पर अधिकारों के लेन-देन में विपरीत बदलाव, जैसे कि काम का कम मेहनताना और चीज़ों की ऊँची कीमतें होना) के कारण उस तक नहीं पहुँच सकते, चाहे खाद्यान्न की उपलब्धता की स्थिति कैसी भी हो।

यह हमें इस रूपरेखा में एक ऐसे अन्य महत्वपूर्ण परिवर्तन पर ले आता है जो गरीबी की बात करते समय आवश्यक है। इसमें संरचनात्मक कारकों की भूमिका को स्पष्टता और प्रबलता के साथ विस्तार दिया जाना चाहिए। सामाजिक सोच पर ऐसी रूढ़िवादी छवियों तथा सरलीकृत व्याख्याओं की पकड़ बहुत मज़बूत है जो गरीबी को व्यक्ति की निजी विफलता की तरह चित्रित करती हैं, जैसा कि हम अगले खण्ड में देखेंगे। परन्तु दूसरी ओर, इन संरचनात्मक कारकों की, और खास कर उनकी जो भारतीय परिस्थिति में निहित हैं, कभी भी उचित ढंग से चर्चा नहीं की जाती।

[3] *अमर्त्य सेन, 1994 बियोंड लिब्रेलाइज़ेशन - सोशल ऑपरचुनिटी एण्ड ह्यूमन केपेबिलिटी, डेवलपमेंट इकोनॉमिक्स रिसर्च प्रोग्राम वर्किंग पेपर, लंडन स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स, डीईपी नं. 54।*

पाठ्यपुस्तकें गरीबी कम करने के लिए उच्च वृद्धि दर और शिक्षा को महत्वपूर्ण मानती हैं: इसमें यह तात्पर्य निहित है कि उच्च वृद्धि रोज़गार के पर्याप्त अवसर पैदा करेगी, जबकि शिक्षा लोगों को रोज़गार दिए जाने के लिए आवश्यक कौशल प्रदान करती है। अर्थव्यवस्था की इसकी आधार अवधारणा वह है जिसमें औपचारिक सेवा क्षेत्र की प्रमुखता होती है। इसके विपरीत, भारत में विराट बहुमत ऐसे लोगों का है, खास कर गरीब लोगों का, जो अभी भी खेती और अनौपचारिक क्षेत्र से होने वाली आमदनियों पर निर्भर करते हैं, और इसलिए औपचारिक शिक्षा में ऐसे लोगों के द्वारा अधिक आय पैदा करने के लिए प्रत्यक्ष योगदान दे सकने लायक बहुत कुछ नहीं होता।

भूमिहीन शारीरिक मज़दूरों के समूह के लिए, जो सबसे अधिक असुरक्षित समूहों में से एक है, उचित मेहनताने पर नियमित मज़दूरी वाला रोज़गार पाना सबसे बड़ी बाधा है। छोटे और सीमान्त किसानों के समूह के लिए, जिसमें अधिकांश किसान आते हैं, तात्कालिक महत्व ऐसे मुद्दों का होता है जैसे कि ऋण तक पहुँच होना, कर्ज़े में राहत, कृषि उत्पादन की सरकारी सहारे वाली कीमतें, उसकी सार्वजनिक खरीद और वितरण, तथा खेती में सार्वजनिक पूँजी निवेश। इन ढाँचागत कारकों तथा गरीबी के बीच सम्बन्ध का एक प्रत्यक्ष और करुण उदाहरण भारत के अनेक राज्यों में अधिक कर्ज़ के कारण किसानों की आत्महत्याओं में हुई अत्यधिक वृद्धि का है। ढाँचागत कारक कुछ खास समूहों के खिलाफ काम करते हैं और उन्हें गरीबी और वंचन की स्थिति में धकेल देते हैं। असंगठित क्षेत्र में उद्यमों के लिए राष्ट्रीय आयोग[4] इस ओर ध्यान खींचती है कि:

"बढ़े हुए उदारीकरण और वैश्वीकरण के परिणामस्वरूप खेती के चक्रों में पारम्परिक मुख्य फसलों से तिलहनों तथा कपास जैसी नकद फसलों की ओर परिवर्तन हुआ है जिनमें लगने वाले आधुनिक उत्पादों और मेहनताने पर रखे गए मज़दूरों पर बहुत पूँजी निवेश करने की आवश्यकता होती है, तथा ऋण लेने की बढ़ी हुई ज़रूरतें होती हैं...। छोटे और सीमान्त किसानों की संस्थानिक वित्तीय संसाधनों तक कोई खास पहुँच नहीं होती थी, और इसलिए उन्हें निजी साहूकारों पर बहुत ज़्यादा निर्भर रहना पड़ता था, जो बहुत ऊँची दरों का ब्याज वसूलते थे। जब फसलें असफल हो जाती थीं या उत्पादन की कीमतें गिर जाती थीं तो उनके पास कर्ज़े पटाने का कोई साधन नहीं बचता था, जिससे वे बर्बादी की कगार पर पहुँच जाते थे। इसके अलावा, उद्योगपतियों के विपरीत किसानों को

*[4] नैशनल कमीशन फॉर ऐन्टरप्राइज़ेज़ इन दि अनऑर्गेनाइज़्ड सेक्टर।*

किसी भी कानून के तहत कर्ज़े में कोई राहत प्राप्त नहीं होती। अधिकांश मामलों में आत्महत्या के शिकार छोटे और सीमान्त किसान थे जो बार-बार लगने वाले कीमतों के झटके बर्दाश्त नहीं कर सकते थे[5]।"

इस प्रकार गरीबी के पीछे जाते हुए सूत्र या तो अर्थव्यवस्था के ढाँचागत कारकों पर तथा/अथवा कई पारस्परिक रूप से सम्बन्धित ऐसे संस्थानिक परिवेशों में ले जाते हैं जो अन्य समूहों की तुलना में कुछ खास समूहों के पक्ष में सेवारत रहते हैं, और आम तौर पर ऐसे भेदभाव का आधार लिंग, वर्ग या जाति होती है।

## 2. चेतन सामाजीकरण की ओर

स्कूल का एक उद्देश्य अवधारणाओं, अवधारणाओं के संजालों, अवधारणात्मक ढाँचों तथा अध्ययन के विषयों से जुड़े तर्क के स्वरूपों को अपने विद्यार्थियों तक सम्प्रेषित करना होता है। गरीबी के विषय पर, जड़ें जमाई हुई ऐसी मान्यताएँ होती हैं जो अकसर विषय के तर्कधारों, खास तौर से उदारवादी दृष्टिकोणों, से टकराती हैं। यदि शिक्षण कमज़ोर और आश्वस्त करने में असफल होता है, तो पहले से जमे हुए सहज सिद्धान्तों और पूर्व धारणाओं को बदलना बहुत कठिन होगा।

गरीबी के विषय के अध्ययन से सम्बन्धित वे रूढ़िवादी छवियाँ और पूर्व-धारणाएँ क्या हैं जिनसे हमारा सामना होने की सम्भावना है? इनमें से कम-से-कम दो बहुत प्रबल और व्यापक हैं।

**ए.** गरीब लोगों में जागरूकता और जानकारी का अभाव तथा उनका गैर-प्रगतिशील नज़रिया एक ऐसा मूलभूत कारण है जिसे गरीबी के लिए ज़िम्मेदार माना जाता है। इस तार्किक धारणा की गहरी छाप सामाजिक और आर्थिक जीवन के हर पहलू पर फैली हुई है, और वह कक्षाओं में होने वाली चर्चाओं में बार-बार उभर कर सामने आती है।

"गरीब लोग अपने बच्चों को स्कूल भेजना नहीं चाहते। उन्हें शिक्षा के फायदों के बारे में कोई समझ नहीं है। स्कूल की बजाय वे उन्हें काम पर भेजना पसन्द करेंगे।"

"ये लोग तरक्की करना नहीं चाहते।"

"गरीबी इसलिए होती है क्योंकि गरीब लोगों के सात-आठ बच्चे होते हैं। उन्हें छोटे परिवार के फायदों के बारे में जागरूक बनाए जाने की ज़रूरत है।"

"जानकारी तथा जागरूकता की कमी के कारण गरीब लोग सरकारी कार्यक्रमों का लाभ उठाने में असमर्थ रहते हैं।"

इस प्रकार, गरीबी के होने का कारण व्यक्तिगत खामियों और कमज़ोरियों को माना जाता है। इस

---

[5] *भारत सरकार, 2007।*

सन्दर्भ में सांस्कृतिक विशेषताओं पर अन्य समाजों में भी रूढ़िवादी सिद्धान्तकारों तथा नीति निर्माताओं के द्वारा ज़ोर दिया जाता रहा है। मुख्यधारा के समाज की तुलना में, गरीब लोगों में तलाक की बढ़ती दरों, महिलाओं की प्रमुखता वाले सिर्फ माताओं द्वारा संचालित परिवार, किशोरियों का गर्भवती होना, मादक पदार्थों/शराब का दुरुपयोग, तथा आपराधिक गतिविधि को परिवार, शिक्षा तथा कामकाज के प्रति उनके निष्क्रिय रवैयों और मूल्यों को प्रतिबिम्बित करने वाले लक्षण माना जाता है। उनके ये रवैए आगामी पीढ़ियों को हस्तान्तरित हो जाते हैं और परिणामस्वरूप गरीबी का ऐसा दुष्चक्र निर्मित हो जाता है जिससे बहुत ही कम लोग निकल पाते हैं।[6] गरीब लोगों का खामियों भरा चरित्र और साथ ही उनका भटका हुआ आचरण ऐसा परिवेश निर्मित करते हैं जो अपने-आप को मज़बूत बनाता जाता है, और यही वह कारण है जो आर्थिक उपयुक्तता तथा सफलता तक उनकी पहुँच को बाधित करता है।

लेकिन यह धारणा किस हद तक सच है? शोध के साक्ष्य साफ तौर पर इन सांस्कृतिक/आचरण सम्बन्धी तर्कों को खारिज करते हैं। गरीबी के कारणों की पड़ताल करने वाले एक प्रयोगात्मक अध्ययन में जोर्डन ने गरीबी को समझाने के लिए सांस्कृतिक तथा ढाँचागत परिवर्तनशील कारकों का मिला-जुला उपयोग किया, लेकिन उन्होंने पाया कि तथाकथित सांस्कृतिक मूल्यों में से कोई भी न तो स्वतंत्र रूप से, और न ही ढाँचागत बदलने वाले कारकों के साथ मिलाकर, गरीबी को समझा पाया, जबकि उनके मॉडल में इस्तेमाल किए गए सभी ढाँचागत कारक महत्वपूर्ण थे। परन्तु, यह सम्भव है कि ढाँचागत परिवर्तनशील कारक उस वातावरण को प्रभावित करते हों जिसमें गरीबों का सांस्कृतिक/आचरण सम्बन्धी अनुकूलन विकसित होता है।

**बी.** इससे जुड़ी एक अन्य पूर्व-धारणा का सम्बन्ध गरीबों के हित में की जाने वाली किसी भी सामाजिक सुरक्षा प्रदान करने वाली तथा संसाधनों का पुनर्वितरण करने वाली व्यवस्था की प्रोत्साहन राशियों की समस्या से है। कक्षा-9 के विद्यार्थियों के बीच हुई एक चर्चा में, एक विद्यार्थी (ए1) ने यह सवाल उठायाः

ए1. सरकार ऐसा क्यों नहीं करती कि नोट छाप कर गरीब लोगों को पैसा दे दे?

ए2. क्या वह जितने चाहे उतने नोट छाप सकती है?

ए3. उसका परिणाम होगा कि कीमतें बढ़ जाएँगी।

ए3. हर व्यक्ति के पास ज़्यादा पैसा होगा...उससे मुद्रास्फीति होगी।

ए4. लोग काम नहीं करेंगे।

*[6] रॉजर्स 2000, जिसका उल्लेख जोर्डन, 2004 में किया गया है।*



फिर बहस में कई अन्य विद्यार्थी शामिल हो गएः “उन्हें पैसा मिल जाएगा। तब वे काम क्यों करेंगे?”

इस बिन्दु पर, एक विद्यार्थी इससे कुछ मिलती-जुलती मध्यान्ह भोजन की मिसाल को चर्चा में ले आया।

“गरीब बच्चे पढ़ने के लिए नहीं, बल्कि खाना खाने के लिए स्कूल आते हैं,” उसने आलोचनात्मक स्वर में कहा।

विद्यार्थियों को इस विषय पर सोचते हुए और तर्कों के सम्बन्धों की कड़ियाँ जोड़ते हुए देखना उत्साहवर्धक था। वे वास्तविक मुद्‌दों पर चर्चा कर रहे थे, जिसका मौका उन्हें बड़ी मुश्किल से कभी मिलता है। परन्तु फिर भी उनकी पूर्व-धारणाएँ काफी एक-सी थीं: लोगों को मेहनत करना चाहिए और अनुदान राशियों के लिए भीख नहीं माँगना चाहिए।

विद्यार्थी वही कह रहे थे जो हमने अकसर संसाधनों के पुनर्वितरण से सम्बन्धित मुद्‌दों पर अर्थशास्त्रियों को व्यक्त करते हुए सुना हैः निष्पक्षता और समता के प्रयास, खास तौर पर प्रोत्साहन राशियों के कारण होने वाले क्षरण (erosion) के माध्यम से, कार्यक्षमता को नुकसान पहुँचाएँगे। निश्चित ही, इन मुद्‌दों के अन्तर्सम्बन्ध इससे कहीं अधिक जटिल हैं। हो सकता है कि अनेक परिस्थितियों में समता और निष्पक्षता पर ध्यान देने से कार्यक्षमता को बढ़ावा देने में मदद मिले, क्योंकि तब हो सकता है कि लोगों का आचरण उनके स्वयं के न्याय-बोध और, अन्य लोग न्यायोचित रूप से व्यवहार कर रहे हैं या नहीं, इसकी उनकी समझ पर निर्भर करे।

बृहत दृष्टिकोण से दिया गया तर्क इस प्रकार होता हैः गरीबी समाज के भौतिक रूप से अपने को पुनर्उत्पादित करने की क्षमता को, अर्थात् उसके उत्पादन के पहलू (अपर्याप्त भोजन पाने वाले तथा खराब स्थितियों में रहने वाले कामगार अपनी सम्भावित क्षमता से बहुत कम उत्पादक होते हैं)

तथा माँग के पहलू (सम्भावित बाज़ार का आकार घट जाना), दोनों को बाधित करती है। सामाजिक न्याय वास्तविक कार्यक्षमता के लिए नितान्त आवश्यक है। लेकिन सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात है कि सामाजिक न्याय अपने-आप में एक महत्वपूर्ण लक्ष्य हैः यह एक संवैधानिक मूल्य है, और कार्यक्षमता के लिए यह जो भी करता है उसके विचार को एक तरफ रख कर, इसे अपने-आप में हासिल करने का प्रयास किया जाना चाहिए।

सचेत सामाजीकरण के माध्यम से स्कूल की पाठ्यचर्या इन प्रबल रूढ़िवादी छवियों को - जो स्कूल से परे दूर तक जीवित बची रहती हैं, और कॉलेज तथा विश्वविद्यालय की शिक्षा में भी जारी रहती हैं - खण्डित करने में सहायता कर सकती है। यह बेहद ज़रूरी है कि स्कूल में हासिल किए गए ज्ञान के द्वारा बच्चों का सामाजीकरण ऐसा हो कि उनमें सामाजिक सरोकारों की संस्कृति तथा समस्याओं के सामूहिक समाधान खोजने की प्रवृत्ति विकसित हो[7]। अर्थशास्त्र के विषय के लिए, इसका निहितार्थ यह है कि किसी मुद्दे की जाँच-पड़ताल करने में पाठ्यक्रम को उच्च स्तरीय सटीकता और निष्पक्षता के साथ-साथ संवेदनशीलता और समानुभूति का पोषण करने का भी प्रयास करना चाहिए।

ऐसे उद्यम के लिए आवश्यक संसाधनों का दायरा बहुत व्यापक हो सकता है और उनका चुनाव इस आधार पर किया जाना चाहिए कि वे, उपदेशात्मक हुए बिना, विद्यार्थियों को रोचक ढंग से विषय में संलग्न करने के अलावा वे जो सोचते हैं उसे व्यक्त करने में सहायक हों। नीचे ऐसी कुछ गतिविधियों का वर्णन किया जा रहा है जिन्हें विद्यार्थियों के साथ करने का प्रयास किया गयाः

**क.** एक आशाजनक मार्ग पाठ्य पुस्तक केन्द्रित शिक्षण पद्धति से बाहर निकल कर अध्ययन में काफी विविध प्रकार के अनुभवों को शामिल करने का है – जैसे कि सर्वेक्षण, विभिन्न प्रकार की पृष्ठभूमियों के लोगों से चर्चा, क्षेत्र-भ्रमण आदि (देखें बॉक्स-1)।

**ख.** दो ऐसी युवा लड़कियों, बैकी और देस्ता, का आख्यान प्रस्तुत करते हैं जो पूर्णतया विपरीत जीवन स्थितियों में पैदा हुईं।[8] हमने पाया कि ऐसे संसाधन, इस मान्यता को चुनौती देने के लिए कि 'जागरूकता तथा प्रेरणा का अभाव' ही गरीबी का मुख्य कारण है, और विद्यार्थियों का ध्यान अर्थव्यवस्था में निहित ढाँचागत कारकों तथा अन्तर-सम्बन्धित संस्थानिक कारकों की ओर दिलाने के लिए उपयोगी होते हैं। सामाजशास्त्र की कक्षाएँ,

[7] *कुमार, के. (1992) व्हॉट इज़ वर्थ टीचिंग? ओरिएण्ट लॉंगमैन, नई दिल्ली।*
[8] *पी. दासगुप्ता (2007) इकोनॉमिक्स - ए वेरी शॉर्ट इंट्रोडक्शन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, ऑक्सफोर्ड।*

# गरीबी में रहने का क्या मतलब है?

स्कूल एस1 की कक्षा-9 के 40 विद्यार्थियों के दल में से प्रत्येक ने पास-पड़ोस के कामगार वर्ग के एक व्यक्ति से विस्तृत साक्षात्कार लिया। विद्यार्थियों ने विभिन्न प्रकार के रोज़गारों में लगे लोगों - घरेलू काम करने वाली बाइयाँ, चौकीदार, प्रवासी मज़दूर, धोबी या लॉन्ड्री चलाने वाले, झाड़ू लगाने वाले, रिक्शा चलाने वाले, कुम्हार, छोटे दुकानदार (फल और सब्ज़ी बेचने वाले), बस संचालक, और एक बेरोज़गार युवक - से साक्षात्कार के रूप में बातचीत की।

विद्यार्थियों के प्रारम्भिक प्रश्नों का सम्बन्ध बात किए जाने वाले व्यक्ति की आमदनी और परिवार में आमदनी के और ज़रियों से था। दूसरी ओर, इसी के साथ-साथ परिवारों के द्वारा किए जाने वाले खर्चों के बारे में सवाल पूछे गए ताकि विद्यार्थी उन लोगों के भोजन, मकान किराए, कपड़ों, साबुन, तेल, पंखा, टिकाऊ उपभोक्ता वस्तुओं, शिक्षा तथा स्वास्थ्य सहित विभिन्न खर्चों का विस्तृत ब्यौरा तैयार कर सकें। फिर विद्यार्थियों ने सिर्फ परिवारों की आमदनियों पर आधारित न रह कर, उनके द्वारा वहन किए जा सकने वाले खर्चों के आधार पर उनके जीवन स्तरों के बारे में निष्कर्ष निकाले।

एक विद्यार्थी ने परिवार की आय की तुलना गरीबी रेखा की टोकरी (पॉवर्टी लाइन बास्केट) से की। वास्तविक आमदनी की तुलना उसकी खरीदने की शक्ति से करने के आधार पर, उसने पाया कि आधिकारिक रूप से गरीबी रेखा के ऊपर होने के बावजूद वह परिवार गरीबी की स्थितियों में जी रहा



parinaam entreprener से साभार

था। उस विद्यार्थी का निष्कर्ष था कि ‘सरकार को गरीबी रेखा के मापन के बारे में फिर से सोचना चाहिए और उसे एक नई गरीबी रेखा निर्मित करना चाहिए’।

अधिकांश हिस्से में, गरीबी के बारे में प्रश्नों को विस्तार देते हुए उनमें आवास, स्वास्थ्य, बच्चों की शिक्षा की आकांक्षाओं, रोज़गार की नियमितता, परिसम्पत्तियों का स्वामित्व आदि को शामिल किया गया था। विद्यार्थियों ने पाया कि भूख गरीबों के जीवन का एक नियमित हिस्सा थी। परिवारों में रिकेट्स (सूखा रोग) तथा तपेदिक जैसी पुरानी लम्बी बीमारियों और वृद्धावस्था के रोगों से पीड़ित मामलों की संख्या चकित करने वाली थी, और गौर किया गया कि वे परिवार उनके इलाज पर अपनी जेब से भारी खर्चे भी कर रहे थे। विद्यार्थियों ने बिजली की आपूर्ति में आने वाले व्यवधानों तथा पीने के पानी की कमियों, और आवास के अभाव के बारे में भी लिखा। उस सब से यह तथ्य उभर कर सामने आया कि गरीबी केवल आमदनी के अभाव से कहीं ज़्यादा बड़ी बात है।

ज़्यादातर, विद्यार्थियों ने उत्तरदाताओं की परिस्थितियों में प्रवेश करने और यह कल्पना करने का प्रयास किया कि उनकी स्थिति में जीना कैसा होगा। उनके कुछ वक्तव्य ऐसे थे जिनमें न्यायबोध झलकता था, जैसे कि “उसकी तनख्वाह बढ़ाई जाना चाहिए क्योंकि जहाँ तक मैं देख पाता हूँ वह मेहनत का बहुत काम करता है।” विद्यार्थियों ने स्वीकार किया कि गरीब ‘बहुत बड़ी तादाद में पाए जाते हैं’ और उनके हालात ‘नियति के कारण’ थे (अर्थात् ऐसे कारकों के कारण जो उनके नियंत्रण से परे थे), जो एकदम सही तो नहीं था लेकिन निश्चित रूप से सही दिशा में एक कदम था। गरीबी तथा शिक्षा के बीच के सम्बन्ध - जो चीज़ों को रूढ़िवादी छवियों में देखने और उन्हें छोटी करके आँकने का एक बड़ा क्षेत्र है - के बारे में एक विद्यार्थी ने साक्षात्कार के आधार पर यह आशय निकाला कि “यदि लोग शिक्षित भी हो जाएँ तो भी यह ज़रूरी नहीं कि उन्हें अच्छी नौकरियाँ और अच्छी आमदनी या वेतन प्राप्त हो जाए।” पर वे बेहतर ढंग से यह समझ सके कि क्यों लोगों ने अपनी पढ़ाई को बीच में छोड़ दिया, या पढ़ाई को जारी रखना कितना मुश्किल होता है, या गरीब लोग क्यों अपनी लड़कियों को स्कूल नहीं भेज रहे हैं। एक विद्यार्थी लिखता है कि ‘स्कूल जाने वाली लड़कियों के लिए किताबें और अन्य चीज़ें खरीदना उसके लिए ऐसी विलासिता है जिसका खर्च वह वहन नहीं कर सकता’। लड़कियों के खिलाफ पक्षपात की उपेक्षा न करते हुए एक विद्यार्थी ने जोड़ा कि ‘केवल उसका लड़का स्कूल जाता है, और उसकी लड़कियाँ घर-गृहस्थी के सारे काम करती हैं तथा स्कूल नहीं

जातीं; वे अपने भाई और अपनी दादी की देखभाल करती हैं जो तपेदिक की मरीज़ है, और उनका दादा भी 80 वर्ष का बहुत बूढ़ा आदमी है।' विद्यार्थियों ने लोगों के उस गुस्से को सहजता से लिया जिसका उन्हें तब सामना करना पड़ा जब उन्होंने सामने वाले व्यक्ति के बच्चों की शिक्षा के बारे में निर्णयों को गलत ठहराने की या उन्हें इस बारे में प्रभावित करने की कोशिश की। "वह इस शिक्षा की बात से बहुत ज़्यादा नाराज़ था। उसके बच्चों को शिक्षित करने के बारे में उसको यकीन दिलाने के लिए और कुछ नहीं कहा जा सकता था।"

विद्यार्थियों को हासिल हुई एक आश्चर्यजनक जानकारी यह थी कि उत्तरदाताओं में उनके द्वारा चिन्हित किए गए गरीब लोगों में से किसी को भी गरीबी-निर्मूलन कार्यक्रमों का लाभ नहीं मिल रहा था। विद्यार्थियों ने सरकार के द्वारा कार्यवाही किए जाने के लिए ढेर सारी अनुशंसाएँ प्रस्तुत कीं। इन गरीब लोगों के जीवन में व्याप्त रोज़मर्रा के संघर्षों ने थोड़े-से युवा मनों को छू लिया था।

विद्यार्थियों को यह समझाने के लिए कि गरीबी कैसे काम करती है और उन्हें इस धारणा से दूर करने के लिए कि गरीब लोग स्वयं उनमें कुछ खामियों के कारण गरीब होते हैं, एक अधिक विस्तृत उपकरण, द लाइफ हैप्पन्स गेम[9] का उपयोग करती हैं।

**ग.** दो बीघा ज़मीन (1953, बिमल राय द्वारा निर्देशित), तथा काबुलीवाला (1961, हेमेन गुप्ता द्वारा निर्देशित) जैसी फिल्मों का माध्यम गरीबी की कई पर्तों वाली प्रकृति को दर्शाता है, और वह ज़मीन तथा कर्ज़े के मुद्दों - जो पिछड़ेपन के सबसे महत्वपूर्ण ढाँचागत निर्धारक कारक हैं - की काफी जटिलता भरी चर्चा करने के लिए उपयुक्त प्रारम्भ बिन्दु प्रदान करता है। गरीबी के दुष्चक्र तथा जुड़ते हुए कारण-परिणाम सम्बन्धों (जैसे कि जिनके पास पहले से सम्पत्ति, शिक्षा और शक्ति है, उनके पास अपने लिए और अधिक हासिल करने के साधन होते हैं) जैसी अवधारणाओं के पीछे के सहज ज्ञान को यदि ऐसे सन्दर्भों से जोड़कर पेश किया जाए तो वह और अधिक स्पष्ट हो जाता है।

## 3. विवादित क्षेत्र के रूप में विकास की नीति

गरीबी-निर्मूलन उपायों तथा विकास नीति पर होने वाली चर्चाएँ आम तौर पर सरकार द्वारा बनाए गए ऐसे कार्यक्रमों के बारे में जानकारी के रूप में प्रस्तुत की जाती हैं जिनमें लोगों की भूमिका इन योजनाओं के

[9] *जीवन घटित होता है-का खेल।*

इच्छुक हितग्राहियों की होती है। इस तरह पाठ्यपुस्तकों से विद्यार्थियों को नीति का एक साफ-सुथरा एकतरफा स्वरूप दिखाई देता है जो वास्तव में अनेक बच्चों, खास कर ग्रामीण बच्चों के जीवन के अनुभवों के अनुरूप होता है जिन्हें स्थानीय स्तर की संस्थाओं के कामकाज की, तथा सत्ता और सरपरस्ती की अधिक जटिल समझ होती है। परन्तु, यह उन छवियों से टकराती भी है जिनको लेकर विद्यार्थी तब लौटते हैं जब असली गरीबी से उनका सामना होता है।

राज्य की नीति के एक सरलीकृत रूप की बजाय, इस स्तर पर हमें इस बारे में विचार कर सकना चाहिए कि राज्य की नीति वास्तव में कैसे बनाई जाती है, और इस प्रक्रिया में हमें इसमें लोगों के प्रतिनिधित्व की भूमिका पर तथा सामूहिक कार्यवाही के सम्भावित अवसरों और उसकी ज़रूरत पर भी ज़ोर देना चाहिए। विकास नीति पर होने वाली वर्तमान बहसें इन आयामों को समझने के लिए अनेक सम्भावनाएँ प्रदान करती हैं। भारत में प्रस्तावित खाद्य सुरक्षा अधिनियम इसके लिए एक प्रासंगिक मिसाल के अध्ययन का ऐसा अवसर दे सकता है जो भूख और गरीबी की समस्या का सम्बन्ध सार्वजनिक नीति तथा सार्वजनिक कार्यवाही से जोड़ता है। खाद्य सुरक्षा अधिनियम का उद्देश्य सभी लोगों को कानूनी अधिकार और पात्रता के रूप में भूख से आज़ादी की गारंटी देना है। ऐसे देश में जहाँ सभी बच्चों में से आधे सामान्य से कम वज़न के हैं, इस बात पर व्यापक सहमति है कि इस अधिनियम का प्रभाव दूर तक पड़ेगा। परन्तु, फिर भी इस विधेयक का प्रबल विरोध हुआ है। सरकार के भीतर से ही उठी आवाज़ों ने ध्यान दिलाया है कि वर्तमान वित्तीय नीति के ढाँचे में सभी लोगों के लिए खाद्य सुरक्षा अधिनियम के लिए अतिरिक्त खर्चों का प्रावधान कर सकना व्यावहारिक रूप से कतई सम्भव नहीं है। इसकी बजाय, यह सुझाव दिया गया है कि उचित हितग्राहियों को लक्ष्य बनाने से खाद्य सुरक्षा के प्रयोजन को पूरा करने के साथ-साथ सार्वजनिक व्यय की कार्यक्षमता को भी बरकरार रखा जा सकेगा। लेकिन फिर किसे और किस प्रकार लक्ष्य बनाया जाना चाहिए?

गरीबी रेखा के नीचे (बीपीएल) के सर्वेक्षण अनेक गरीब लोगों को उसके बाहर छोड़ दिए जाने की समस्या से ग्रस्त रहे हैं। एनएसएसओ के 61वें दौर के आँकड़ों के अनुसार, 2004 से 2005 तक सबसे गरीब 20% परिवारों में से मुश्किल से आधे परिवारों के पास गरीबी रेखा के नीचे वाले परिचय पत्र (बीपीएल कार्ड) थे! जहाँ एक ओर सरकार की पात्र-हितग्राहियों को लक्ष्य बनाने की पद्धति का सक्रिय प्रतिभागी समूहों द्वारा तीखा विरोध किया गया है, वहीं दूसरी ओर सरकार एक वैकल्पिक बीपीएल सर्वेक्षण पद्धति

को आज़मा रही है।

जब गरीबी रेखा की धारणा की ऐसे मामलों के माध्यम से चर्चा की जाती है, तो उसमें गरीबी के संकीर्ण दृष्टिकोण पर समुचित चिन्तन को बढ़ावा देने की सम्भावना वर्तमान स्थिति की तुलना में अधिक होती है। हालाँकि गरीबी को समझने के लिए हमने एक वैकल्पिक अवधारणात्मक रूपरेखा प्रस्तावित की है, परन्तु चिन्तन के उद्देश्य से किसी बिन्दु पर संकीर्ण गरीबी रेखा की चर्चा करना उचित होगा। कोई भी सामाजिक हलचल, और कोई भी सार्वजनिक नीति अलग-अलग लोगों को अलग-अलग ढंग से प्रभावित करती है। कई दृष्टिकोणों के बारे में सीखना समग्र दृष्टि प्रदान करता है, क्योंकि विभिन्न स्रोतों/दृष्टिकोणों को पहचानना और उनका उपयोग करना विद्यार्थियों में विश्लेषणात्मक तथा समीक्षात्मक सोच विकसित करने में मदद करता है। इस बहस के विभिन्न पहलू क्या हैं? यह नीति किसकी आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करती है? ऐसे प्रश्न सार्वजनिक नीति के राजनीतिक अर्थशास्त्र की ओर ध्यान आकर्षित करने के लिए उपयोगी हो सकते हैं।

अन्त में, ये समकालीन बहसें और उनसे जुड़े हुए संघर्ष इस बात को भी बिलकुल साफ कर देते हैं कि साधारण लोगों के हित में किसी प्रगतिशील कानून को स्वीकृत कराने या उनके अधिकारों को सुरक्षित करने के लिए बहुत बार लम्बी लड़ाइयाँ लड़ना होती हैं। रोज़गार गारंटी अधिनियम (2005) एक ऐसा कानून है जो अन्तिम विकल्प के रूप में राज्य पर रोज़गारदाता बनने का दायित्व डालता है, और जिसे आज ग्रामीण जीविकाएँ प्रदान करके यथास्थिति बदलने वाले एक बड़े कदम की तरह देखा जाता है, परन्तु यह कानून विभिन्न प्रकार के गैर-राजकीय सक्रिय प्रतिभागियों - नागरिक समाज के समूहों, ज़मीनी आन्दोलनों, बुद्धिजीवियों के दबावों, राजनीतिक दलों द्वारा की गई लामबन्दी, तथा न्यायिक हस्तक्षेप - के लम्बे संघर्षों के परिणामस्वरूप ही अस्तित्व में आया। क्षमता की अध्ययन पद्धति और अधिकारों के दृष्टिकोण की ओर बदलाव होने से यह ज़रूरी हो गया है कि इस विषय की चर्चा में इन पहलुओं को समेकित किया जाए कि अधिकारों को कैसे हासिल किया जाता है, और सामूहिक कार्यवाही की सम्भावनाएँ क्या हैं।

## निष्कर्ष

एक धर्मनिरपेक्ष, समतावादी और अनेकतावादी समाज के रूप में भारत की संवैधानिक कल्पना से मार्गदर्शन प्राप्त करते हुए, पाठ्यक्रम की राष्ट्रीय रूपरेखा 2005 में समानता और सामाजिक न्याय पर आधारित शिक्षा के कुछ व्यापक लक्ष्य निर्धारित किए गए हैं। परन्तु, स्कूलों में पढ़ाए जाने वाले अर्थशास्त्र के पाठ्यक्रम इन सरोकारों और आन्दोलनों से अप्रभावित

बने रहे हैं, जैसा कि इस शोधपत्र में किए गए विश्लेषण ने स्पष्ट रूप से उजागर किया है। स्कूलों के अर्थशास्त्र ने अध्ययन के इस क्षेत्र में हुए उन महत्वपूर्ण नए विकासों की उपेक्षा की है जिन्होंने अर्थशास्त्र को उसकी संकीर्ण प्रत्यक्षवादी पद्धतियों से मुक्त कराने का, और एक खुले, व्यापक और समावेशी ढाँचे में मानवीय विकास की अवधारणा निर्मित करने का विकल्प प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। हमने दोहराया है कि मूल्यांकित किए जाने वाले दायरे के रूप में आर्थिक वृद्धि और आय पर केन्द्रित वर्तमान संकुचित निर्धारणात्मक रूपरेखा कमज़ोर ज्ञानशास्त्रीय और दार्शनिक नींव पर आधारित है। इसके अलावा, शैक्षणिक कार्य में इसके उपयोग की दृष्टि से यह समझ की सटीकता को, या दूसरों के प्रति समानुभूति को पोषित करने के लिए पूरी तरह से अनुपयुक्त है। एक वैकल्पिक शिक्षण पद्धति के लिए ऐसे मूलभूत परिवर्तनों की आवश्यकता होगी जो अनिवार्य रूप से अर्थशास्त्र तथा दर्शनशास्त्र, समाजशास्त्र, और राजनीतिक अर्थव्यवस्था के संगम से जुड़े हुए अन्तर्विषयी शोध पर आधारित हों।

---

**सुकन्या बोसः** नैशनल इंस्टीट्यूट ऑफ पब्लिक फाइनैन्स एंड पॉलिसी, नई दिल्ली में कार्यरत। इनकी शोध रुचियों में विकास, शिक्षा और वृहत् अर्थशास्त्र जैसे विषय शामिल हैं।
**अँग्रेज़ी से अनुवादः भरत त्रिपाठीः** पत्रकारिता की पढ़ाई। स्वतंत्र लेखन और द्विभाषिक अनुवाद करते हैं। होशंगाबाद में निवास।

इस शोध से सम्बन्धित क्षेत्र-अध्ययन कार्य नई पाठ्यपुस्तकों के लागू किए जाने के बाद स्कूलों के पुनरीक्षण कार्यक्रम के हिस्से के रूप में किया गया था, और उसे एकलव्य, मध्यप्रदेश द्वारा सहयोग दिया गया था।

सम्पूर्ण सन्दर्भ सूची के लिए लेखिका से सम्पर्क कर सकते हैं। उनका ई-मेल पता है - sukanya_bose@yahoo.com